THE TIMES OF INDIA

Date: 26-11-25

Free Up Free Speech

The scope has to broaden. Too many courts & much police action do the opposite, as SC has noted

TOI Editorials

CJI Surya Kant's observations on free speech put the focus back on twin questions courts often explore – how to protect the right to free speech and protect free speech from 'abuse'. Free speech, in India, is subject to 'reasonable restrictions'. But which restrictions are reasonable and what constitutes 'abuse' – that's the nub of it. Courts have not always been consistent, nor have they always defined free speech broadly. Do some social media handles, which viciously target specific groups, stretch free speech rights intolerably, as opposed to caricaturists and standups, who use humour to critique the powerful? The logical answer is yes. But police seem to think the answer is no, given who their FIR targets are.

The point about reasonable restrictions is they need to be clearly reasonable. HCs are known to err on the side of excessive caution. Karnataka HC noted in the case of Kamal Haasan – hauled to court for suggesting Kannada was an offshoot of Tamil – that he could "not hurt sentiments of the masses". Far too many cartoonists, standups, activists, journalists, artists and poets are arrested only to be punished via the arduous police-court-trial process. Such cases fall apart during appeals in SC, which maintains that for one, standard for free speech cannot rest on "insecurity" of those in power or because certain views are "disliked" by large sections and second, speech in poor taste is not a crime. SC has said of itself, too, that judges should take criticism on their chin, and politicians be thick-skinned. Mocking religion may be pushing limits in this country, lampooning netas is not.

Morality and decency is another undefinable 'restriction' – and therefore ever vulnerable to both litigious moral busybodies and all kinds of court rulings. In podcaster Allahbadia's case, SC painfully, but not helpfully, separated 'vulgarity' from 'obscenity'. Even more court time is spent on art gallery displays. Even works by modern artists. FN Souza, Akbar Padamsee, MF Husain, have wound up being subjects of litigation. Why? Because someone thought they fell inside the scope of 'reasonable restrictions' centered on morality/decency. It took 14 years for Milind Soman-Madhu Sapre's nudity case to be thrown out. So, yes, the definition of free speech needs work – but the work is to broaden the scope of what we mean by free speech.

THE ECONOMIC TIMES

Date: 26-11-25

G20 J'Burg, a Beta Test for 'US Plus One'

ET Editorial

The world without the US is ridiculous. As the largest economy and one of the richest, not to mention home to still the most effective military-industrial-technological complex, an America-less global view — cataract and all — would be seeing the world with the lights switched off. Yet, the 2-day G20 summit that concluded on Sunday in Johannesburg presented a rare view of just that: a global pow-wow sans the Big Guy. Trump's boycott — citing since-discredited charges of 'genocide' of White South Africans — was in keeping with the Mar-a-Lago regime's tactic of pulling out of anything that doesn't follow its script. But South African President Cyril Ramaphosa, along with others including Modi, Macron, Lula, Meloni and Merz, seemed to treat it as a beta test for 'US Plus One' multilateralism.

Such a scenario may well recur, so might as well get used to it. G20 minus 1 successfully adopted a declaration that stressed on better adaptation to climate change, pushing gender equality, and fighting against terrorism of all hues, an agenda Modi pushed with aplomb. The Trump regime has opposed or been iffy on these issues it perceives as 'America Last'. So, US presence would have just created headlines, without any semblance of international engagement.

The US' blanket boycott marks a 'post-rattled' trajectory for its allies. While Macron did warn that the absence of about onethird of full leadership participation (China and Russia sent representatives) posed a serious risk to G20's future relevance, J'Burg can be treated as a thought experiment for multilateral geo-politicking. The way Austrian physicist used the term' Gedankenexperiment ': imaginary conduct of a real experiment that could, one day, be performed as a real physical experiment.

दैनिक भास्कर

Date: 26-11-25

अमेरिका के बिना भी हो सकते हैं वैश्विक सम्मेलन

संपादकीय

विगत सप्ताहांत दो अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन हुए- पर्यावरण संकट से उबरने के लिए 200 देशों की सहभागिता वाले सीओपी की 30वीं बैठक ब्राजील में और आर्थिक सहयोग के लिए 20 सदस्यों (परोक्ष रूप से दर्जनों देशों) वाले जी-20 की बैठक दक्षिण अफ्रीका में हुई। दोनों में अमेरिका अनुपस्थित रहा लेकिन फिर भी घोषणापत्र / संयुक्त बयान जारी हुए, जिसे ट्रम्प सरकार ने गलत बताया। यूएस ने जी-20 बैठक में आने से इस आधार पर मना किया कि दक्षिण अफ्रीका में गोरों पर अत्याचार हो रहा है । बहरहाल दोनों सम्मेलनों में भारत की भूमिका प्रमुख रही । जी -20 में पीएम ने छह सुझाव दिए, जिनका प्रभाव संयुक्त घोषणा पत्र में दिखा। साथ ही भारत ने कनाडा और ऑस्ट्रेलिया के साथ टेक्निकल पार्टनरशिप का समझौता भी किया । पीएम ने एक ओर विकास को पुनर्परिभाषित करने पर बल दिया, साथ ही याद

दिलाया कि भारत की अध्यक्षता में ही 55 देशों वाली अफ्रीकन यूनियन को जी-20 की सदस्यता मिली। पर्यावरण सुधार पर सीओपी की वैश्विक बैठक में भी ट्रम्प के इरादों के विपरीत इस बात पर बल दिया गया कि संपन्न देश कार्बन उत्सर्जन का बोझ झेलने के लिए गरीब और विकासशील देशों को मजबूर नहीं कर सकते । इससे अमेरिका की यह गलतफहमी दूर हो गई कि किसी संस्था का भविष्य उसके संस्था में रहने या न रहने पर ही निर्भर करता है।

दैनिक जागरण

Date: 26-11-25

समस्या बना संविधान के मूल ढांचे का सिद्धांत

डॉ. एके वर्मा, (लेखक सेंटर फॉर द स्टडी आफ सोसायटी एंड पालिटिक्स के निदेशक एवं राजनीतिक विश्लेषक हैं)

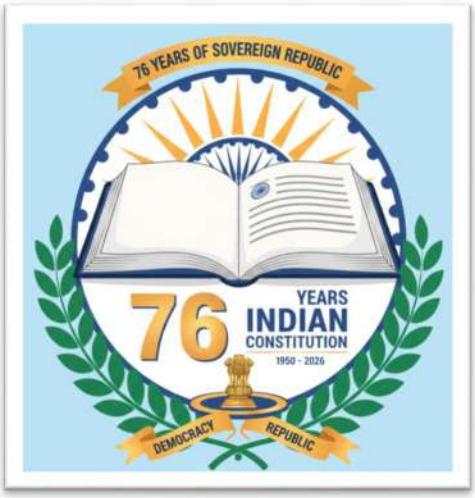

इस साल 26 नवंबर को भारतीय संविधान के 76 वर्ष पूर्ण हो गए हैं। कुछ उतार-चढ़ावों के बावजूद संविधान ने देश के गणतंत्रात्मक, संघात्मक और लोकतांत्रिक स्वरूप को सशक्त किया है। जहां पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, श्रीलंका जैसे तमाम देशों में कई-कई बार संविधान बदल कर नए संविधान बनाए गए, वहीं भारतीय जनता ने अपने संविधान में आस्था बनाए रखी है। संसद ने 106 संविधान संशोधनों द्वारा कानून और सामाजिक विकास में समन्वय बनाए रखा है। आपातकाल के दौरान इंदिरा गांधी द्वारा संविधान में छेड़छाड़ को छोड़ दिया जाए तो हम कह सकते हैं कि संविधान निर्माताओं की अपेक्षाओं के अनुरूप संविधान चलता रहा है।

लोकतंत्र सीधी लकीर में चलने वाली संवैधानिक व्यवस्था नहीं है। असहमति, आलोचना और विरोध उसके अपरिहार्य तत्व हैं। इसलिए लोकतंत्र में होने वाले टकरावों से उत्पन्न सामाजिक राजनीतिक गर्माहट को नकारात्मकता की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। भारत ने सामाजिक, सांस्कृतिक, मजहबी, क्षेत्रीय और भाषाई आदि विविधताओं के चलते असहमतियों, आलोचनाओं और विरोध को अपनी लोकतांत्रिक सभ्यता-संस्कृति के अभिन्न तत्व के रूप में अंगीकार किया है।

इस वर्ष संविधान दिवस इसलिए विशेष है, क्योंकि हाल में सर्वोच्च न्यायालय की पांच सदस्यीय खंडपीठ ने राष्ट्रपति द्रौपदी मुर्मु द्वारा अनुच्छेद 143(1) के अंतर्गत मांगे गए 14 बिंदुओं पर अपना परामर्श दिया, जिसमें न्यायमूर्तियों ने 'स्वदेशी व्याख्या' पद्धति अपनाई। इसी में न्यायमूर्तियों ने 'शक्ति विभाजन सिद्धांत' की पुनर्स्थापना करते हुए स्वयं न्यायपालिका को सचेष्ट किया कि वह कार्यपालिका अर्थात राष्ट्रपति एवं राज्यपालों द्वारा विधेयकों को स्वीकृत करने के संवैधानिक अधिकारों में सेंध का प्रयास न करे। यह महत्वपूर्ण न्यायिक परामर्श है, जो न्यायपालिका के लिए न केवल

'लक्ष्मण रेखा' खींचता है, वरन व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अंतर्संबंधों में पारस्परिकता एवं सौहार्द की आवश्यकता को भी रेखांकित करता है।

जनता को लगता है कि 1993 में न्यायिक नियुक्तियों के लिए बनी कोलेजियम प्रणाली और उससे पहले 1973 में केशवानंद भारती मामले में संविधान के मूल ढांचे का सिद्धांत प्रतिपादन करने में सर्वोच्च न्यायालय ने संभवत: इस लक्ष्मण रेखा का अतिक्रमण किया है। कोलेजियम प्रणाली के तहत न्यायपालिका ने उच्चतर न्यायपालिका में नियुक्ति एवं स्थानांतरण का अधिकार अपने हाथ में ले लिया। यह व्यवस्था अनुच्छेद 124 में वर्णित प्रक्रिया के उलट है, जो राष्ट्रपति को अधिकार देती है कि वह मुख्य न्यायाधीश और ऐसे अन्य न्यायाधीशों (जिनसे परामर्श जरूरी हो) से परामर्श कर न्यायाधीशों की नियुक्ति करे। प्रमुख लोकतंत्रों में कहीं ऐसा नहीं है जहां न्यायपालिका ही न्यायाधीशों की नियुक्ति करे। विशेषज्ञों का भी मानना है कि कोलेजियम व्यवस्था से न्यायिक नियुक्तियों में निष्पक्षता एवं पारदर्शिता प्रभावित हुई है और न्यायपालिका एवं कार्यपालिका के बीच शक्ति का संतुलन बिगड़ा है।

संविधान के मूल ढांचे का सिद्धांत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों पर सदैव लटकने वाली तलवार जैसा है। केशवानंद भारती मामले में न्यायालय ने निर्णय दिया कि संसद मौलिक अधिकारों सहित संविधान के किसी भी प्रविधान में संशोधन कर सकती है, लेकिन संविधान के मूल ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। न्यायालय ने मूल ढांचे की कोई अंतिम परिभाषा एवं सूची नहीं बनाई। इतना ही नहीं, कालांतर में शीर्ष अदालत मूल ढांचे के अलग-अलग पहलू चिह्नित करती गई। इस प्रकार संसद आश्वस्त ही नहीं हो पाती कि संविधान संशोधन में वह किसी मूल ढांचे का उल्लंघन कर रही है या करने जा रही है?

संविधान निर्माताओं ने न्यायपालिका को न्यायिक पुनरीक्षण का सीमित अधिकार दिया था और उसे विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के सिद्धांत से बांधा भी, जिससे वह किसी कानून को केवल तभी निरस्त कर सके जब वह संवैधानिक प्रविधानों के विरुद्ध हो। मूल ढांचे के सिद्धांत का प्रयोग कर सर्वोच्च न्यायालय ने स्वयं को 'न्यायिक वीटो' प्रदान कर दिया है, जो कानूनों और संवैधानिक संशोधनों को भी किसी ज्ञात या अज्ञात मूल ढांचे के विरुद्ध होने के आधार पर निरस्त कर सकता है।

मूल ढांचे के सिद्धांत का प्रतिपादन कर न्यायपालिका ने व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों पर अपना वर्चस्व स्थापित किया है, जो स्वयं मूल ढांचे के शक्ति विभाजन सिद्धांत के प्रतिकूल है। ऐसे में संविधान के मूल ढांचे के सिद्धांत की नए सिरे से समीक्षा होनी चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने भले ही राष्ट्रपति या राज्यपालों हेतु विधेयकों की स्वीकृति के लिए समयसीमा निर्धारित करने को त्रुटिपूर्ण माना, पर यह भी संकेत दिया कि राष्ट्रपति एवं राज्यपालों को विधेयकों को स्वीकृत करने में अति-विलंब नहीं करना चाहिए। क्या यह संकेत न्यायपालिका तक भी जाएगा, क्योंकि न्यायपालिका में वादों को निपटाने में बहुत समय लगता है? क्या सर्वोच्च न्यायालय किसी ऐसी व्यवस्था को जन्म दे सकता है, जिससे मुकदमों पर एक-सप्ताह, एक-महीने या एक-वर्ष में अंतिम निर्णय हो सके?

विकसित राष्ट्र के लिए संविधान की क्लिष्ट भाषा का सरलीकरण भी जरूरी है। संविधान की भाषा ऐसी हो कि विधि विशेषज्ञ, वकील और न्यायाधीश ही नहीं, आम नागरिक भी संविधान को पढ़-समझ सकें। यह सही है कि सरकार और न्यायपालिका की कई पहल ऐसी रही हैं, जिनसे संविधान और कानूनों का सरलीकरण हुआ है, लेकिन संविधान के प्रति आदर का भाव होने के बावजूद अभी आम नागरिक और संविधान में बहुत दूरी है। संविधान के प्रति यह आदर बना रहे

और संवैधानिक संस्थाओं के प्रति जनता की आस्था अडिग रहे, इसके लिए जरूरी है कि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका अपने-अपने उत्तरदायित्वों की लक्ष्मण रेखा को पहचानते हुए भारतीय संस्कृति और मूल्यों को ध्यान में रखकर अपने कर्तव्यों का निर्वहन करें। तभी भारत विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र के साथ ही सर्वश्रेष्ठ लोकतंत्र भी बन सकेगा।

जनसत्ता

Date: 26-11-25

न्याय की खातिर

संपादकीय

पिछले कुछ वर्षों में देश में कानून का दुरुपयोग एक गंभीर चिंता का विषय बनकर उभरा है, जिसने कानूनी पेशेवरों, नीति निर्माताओं और आम जनता का ध्यान आकर्षित किया है। कानून समाज में व्यवस्था बनाए रखने, अधिकारों की रक्षा और न्याय सुनिश्चित करने के लिए बनाए जाते हैं, लेकिन उनका दुरुपयोग न केवल अदालतों के कीमती समय को जाया करता है, बल्कि कई बार अन्यायपूर्ण परिणाम भी दे सकता है। इससे न्याय के प्रति जनता के विश्वास को ठेस पहुंचता है और यह कानून के शासन को कमजोर कर सकता है। ऐसे मामलों से अदालतों पर मुकदमों का अनावश्यक बोझ पड़ता है, जिससे न्यायिक प्रणाली में बाधाएं उत्पन्न होती हैं। कुछ लोगों की ओर से अपने निहित स्वार्थों के लिए न्यायिक प्रणाली के दुरुपयोग की इस बढ़ती प्रवृत्ति की सर्वोच्च न्यायालय ने सोमवार को कड़ी निंदा की। साथ ही कहा कि आपराधिक कानून व्यक्तिगत दुश्मनी निपटाने के लिए प्रतिशोधात्मक कार्रवाई का जरिया नहीं बन सकता और सभी अदालतों को ऐसी प्रवृत्तियों के प्रति सतर्क रहना होगा।

किसी कानून का दुरुपयोग तब होता है, जब उसके प्रावधानों की व्यापकता और लचीलेपन का अनुचित फायदा उठाकर उसे अपना निजी हित साधने के लिए इस्तेमाल करने की कोशिश की जाती है। इसके कई रूप हो सकते हैं, जिनमें झूठे आरोप, व्यर्थ की मुकदमेबाजी और कानूनी खामियों का लाभ उठाने का प्रयास भी शामिल है। इस तरह के मामलों की बढ़ती संख्या जहां वास्तविक विवादों से जुड़े मुकदमों के फैसले में देरी का कारण बनती है, वहीं इससे न्यायिक संसाधनों की बर्बादी भी होती है और न्यायिक प्रणाली की विश्वसनीयता कमजोर होती है। कई बार कानून में अस्पष्टता के कारण भी उसके दुरुपयोग की संभावना बढ़ जाती है। ऐसे में देश के नीति निर्माताओं का दायित्व है कि वे सभी पहलुओं पर व्यापक चर्चा और गहन मंथन के बाद कानून का अंतिम प्रारूप तैयार कर उसे लागू करें, ताकि उसमें ऐसी कोई खामी न रहे, जिसका आगे चलकर दुरुपयोग किया जा सके। समाज में न्याय की भावना और कानून के शासन के प्रति सम्मान को बनाए रखना बेहद जरूरी हैं।

इसमें दोराय नहीं है कि जब कानून का दुरुपयोग होता है, तो न्याय व्यवस्था में जनता का विश्वास कम हो जाता है। लोग कानूनी प्रक्रिया की निष्पक्षता और प्रभावशीलता को लेकर सशंकित हो जाते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने इस चिंता के साथ खुद को जोड़ते हुए गुवाहाटी के एक व्यवसायी के खिलाफ दर्ज आपराधिक मामले को खारिज कर दिया और कहा कि यह कानून के दुरुपयोग से प्रेरित है। शीर्ष अदालत ने टिप्पणी की कि हाल के वर्षों में यह देखा गया है कि कुछ लोग अपने निजी स्वार्थों और अप्रत्यक्ष उद्देश्यों को पूरा करने के लिए आपराधिक न्याय तंत्र का दुरुपयोग कर रहे हैं। ऐसे में अदालतों को इस तरह की प्रवृत्ति के संबंध में सजग रहना होगा और यह सुनिश्चित करना जरूरी है कि समाज के ताने-बाने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले आपराधिक सोच से जुड़े प्रयासों को शुरू में ही रोक दिया जाए। इस बात पर गौर करना भी जरूरी है कि कानून के दुरुपयोग पर पूरी तरह अंकुश कैसे लगाया जा सकता है। विधि विशेषज्ञों का मानना है कि कानूनी प्रावधानों के उचित उपयोग के बारे में जन जागरूकता बढ़ाने तथा शैक्षिक एवं कानूनी साक्षरता कार्यक्रम इस संबंध में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। इसके साथ ही कानूनों की समय-समय पर समीक्षा होनी चाहिए और अगर जरूरी हो तो उनमें संशोधन किया जाना चाहिए।

Date: 26-11-25

अनुसंधान और समावेशी विकास की राह

शिशिर शुक्ला

हाल ही में प्रधानमंत्री ने शोध एवं विकास में निजी क्षेत्र के निवेश को बढ़ावा देने के लिए एक लाख करोड़ रुपए के कोष की शुरुआत की है। साथ ही उन्होंने यह घोषणा भी की है कि भारत अब उच्च जोखिम एवं उच्च प्रभाव वाली परियोजनाओं को संचालित करते हुए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में वैश्विक पटल पर एक महाशक्ति के रूप में उभरने के लिए पूरी क्षमता के साथ प्रयास करेगा।

अनुसंधान को गति देने के लिए उठाया गया यह कदम सराहनीय है, क्योंकि अगर यह अपने मूल उद्देश्य के मुताबिक ही अमल में आया, तो इसके अनेक दूरगामी परिणाम दिख सकते हैं। सर्वविदित है कि आज के वैश्विक परिदृश्य का स्वरूप और परिस्थितियां उथल-पुथल और प्रतिस्पर्धा से परिपूर्ण हैं। द्रुत गति से नए रूप धारण करती हुई तकनीक के इस दौर में वही राष्ट्र प्रगति के आयामों को स्पर्श कर सकता है जो अनुसंधान एवं विकास के पैमाने पर ऊंचाई हासिल करता हो।

यह महज कोरा तर्क नहीं है, बल्कि प्रमाणित एवं सिद्ध तथ्य है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी और नवाचार किसी भी देश की आर्थिक प्रगति के सबसे अहम स्तंभ हैं। जिन देशों ने अनुसंधान एवं विकास में निवेश को प्राथमिकता दी है, आज वैश्विक अर्थव्यवस्था और तकनीकी प्रतिस्पर्धा में अग्रणी हैं। भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले विकासशील राष्ट्र के लिए भी यह आवश्यक हो गया है कि वह शोध और विकास के क्षेत्र में आत्मनिर्भर हो।

भारत में शोध एवं विकास का नेतृत्व मुख्यत: सरकारी संस्थानों, विश्वविद्यालयों और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों ने किया है। आधुनिक युग में वैश्विक प्रतिस्पर्धा तीव्र हो चुकी है। नवाचार और तकनीकी उत्कृष्टता के क्षेत्र में निजी क्षेत्र की भूमिका अत्यंत निर्णायक बन गई है।

निजी कंपनियों के निवेश न केवल तकनीकी उन्नयन में सहायक हैं, बल्कि रोजगार सृजन, औद्योगिक उत्पादकता और आर्थिक स्वावलंबन में भी उनकी बड़ी भूमिका होती है। वर्तमान युग में किसी देश की आर्थिक शक्ति और क्षमता का निर्धारण केवल प्राकृतिक संसाधनों अथवा जनसंख्या के आधार पर नहीं किया जा सकता, बल्कि वहां के शैक्षिक संसाधन और अनुसंधान व नवाचार की स्थिति भी इस संबंध में अहम भूमिका का निर्वहन करते हैं।

यही कारण है कि विश्व के अग्रणी देश, जैसे अमेरिका, जापान, जर्मनी, दक्षिण कोरिया, चीन आदि अपने सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का एक बड़ा हिस्सा अनुसंधान और विकास में निवेश करते हैं।

शोध एवं विकास के वर्तमान भारतीय परिदृश्य पर गौर करें, तो निश्चित रूप से यह संतोषजनक नहीं है। यहां मौजूदा समय में कुल सकल घरेलू उत्पाद का 0.65 फीसद हिस्सा ही अनुसंधान एवं विकास के लिए खर्च किया जाता है। यह वैश्विक औसत से काफी कम है।

इस निवेश में भी यदि सरकारी तथा निजी क्षेत्र की अलग-अलग हिस्सेदारी की बात की जाए, तो सरकारी क्षेत्र की हिस्सेदारी 65 से 70 फीसद तथा निजी क्षेत्र की हिस्सेदारी लगभग 30 से 35 फीसद है। वहीं अगर चीन, अमेरिका एवं दक्षिण कोरिया जैसे विकसित देशों के आंकड़ों को देखें, तो पाएंगे कि वहां पर निजी क्षेत्र द्वारा अनुसंधान एवं विकास पर व्यय में किया जाने वाला योगदान लगभग 75 फीसद है। जाहिर है कि हम इस मामले में विकसित देशों से काफी पीछे हैं।

नवाचार एवं शोध का एक उन्नत पारिस्थितिकी तंत्र विकसित करने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि सरकार के साथ-साथ निजी क्षेत्र भी इस पर ध्यान देते हुए योजनाबद्ध ढंग से अच्छा-खासा निवेश करने का प्रयास करे। निस्संदेह भारत आज सतत रूप से विकास की सीढ़ियां चढ़ रहा है, लेकिन ऐसे कई क्षेत्र हैं जिनमें हम कहीं न कहीं आज भी दूसरे देशों पर निर्भर हैं। शोध एवं नवाचार के माध्यम से हमें निर्भरता की इन्हीं बंदिशों को खत्म करने का प्रयास करना है।

हालांकि पिछले एक दशक में अनेक क्षेत्रों में निजी क्षेत्र की भागीदारी में वृद्धि देखी गई है, विशेषकर सूचना प्रौद्योगिकी, औषधि, जैव-प्रौद्योगिकी, नवीकरणीय ऊर्जा और आटोमोबाइल उद्योग में। मगर निजी क्षेत्र की हिस्सेदारी का यह अनुपात अभी भी विकसित देशों की तुलना में काफी कम है।

एक अनुमान के अनुसार वर्ष 2023-24 में शोध एवं विकास में कुल निवेश का लगभग 44 फीसद निजी क्षेत्र द्वारा किया गया। पूरा विश्व आज भारत को निवेश के एक बेहतर विकल्प के रूप में देख रहा है। इस दृष्टि से भी निजी क्षेत्र की भूमिका बढ़ जाती है। यदि अनुसंधान एवं विकास की नींव में निजी क्षेत्र की भागीदारी सुनिश्चित हो जाए, तो इन मामलों में हम बहुत जल्द अग्रिम पंक्ति में खड़े नजर आएंगे।

अनुसंधान एवं विकास में निजी क्षेत्र का निवेश निश्चित रूप से संभावनाओं के नए द्वार खोलेगा। निजी क्षेत्र की भागीदारी उत्पादकता सुनिश्चित करेगी। इसके साथ ही तकनीक के इस्तेमाल से उत्पादन की लागत घटेगी। इसका परिणाम यह होगा कि हम धीरे-धीरे आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ेंगे।

निजी निवेश का एक परिणाम यह निकलेगा कि इससे बड़े पैमाने पर रोजगार सृजन होगा। कई क्षेत्रों में विभिन्न स्तर के रोजगार पैदा होने से बड़ी संख्या में बेरोजगारों को समायोजित करने में मदद मिलेगी। इससे बेरोजगारी दूर करने की दिशा में प्रयास सफल हो सकेगा। निजी क्षेत्र विदेशी मुद्रा एवं संसाधनों के लिए एक आकर्षण की भूमिका अदा करता है। शोध में निजी क्षेत्र के योगदान से विदेशी कंपनियों और विदेशी पूंजी का प्रवाह भारत की तरफ होगा, जिसका नतीजा यह होगा कि हम कहीं न कहीं अधिक उन्नत तकनीक से अवगत हो सकेंगे। तकनीकी हस्तांतरण प्रगति की रफ्तार को बढ़ाएगा।

निजी क्षेत्र समाज के जीवन स्तर को उठाते हुए समावेशी विकास को सुनिश्चित करेगा। भारत जैसे विकासशील देश के लिए शोध एवं विकास के क्षेत्र में सरकार की जिम्मेदारी और भूमिका सबसे अहम है। मगर निवेश की राह भी इतनी आसान नहीं है। इसके जमीनी स्तर पर सफल क्रियान्वयन में कई चुनौतियां भी आड़े आएंगी। दरअसल, शोध एवं विकास एक अनिश्चित परिणाम वाली दीर्घकालिक प्रक्रिया है। अनेक बार ऐसा होता है कि एक बड़ी अपेक्षा के साथ किया गया प्रयोग असफल भी हो जाता है।

दूसरे शब्दों में कहें, तो शोध एवं विकास की प्रक्रिया जोखिम से परिपूर्ण है। इस जोखिम को उठाने की क्षमता निजी क्षेत्र की प्रत्येक इकाई के पास नहीं है। इसके अलावा, एक अन्य अहम बिंदु यह भी है कि शोध के परिणाम एक लंबी अवधि की प्रक्रिया के संपन्न होने के बाद ही प्राप्त होते हैं।

ऐसी नीतियां और माहौल तैयार हो, तो निजी क्षेत्र शोध एवं विकास के क्षेत्र में निवेश करने के लिए स्वत: उत्साहित होंगे। अगर निजी क्षेत्र निवेश के लिए आगे आता है, तो उसे दीर्घकालिक प्रतिफल के लिए धीरज रखने की जरूरत होगी और सरकार को भी इस मसले पर स्पष्टता बनानी होगी कि यह निजी क्षेत्र के लिए केवल लाभ का मसला नहीं है।

आज तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों की मांग यह है कि शोध एवं विकास की ओर गंभीरतापूर्वक ध्यान देते हुए इसे राष्ट्र की प्राथमिकता के तौर पर देखा जाना चाहिए। ऐसा करके ही हम राष्ट्र की समग्र प्रगति एवं विकास को सुनिश्चित कर सकेंगे।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 26-11-25

राज्यपाल को राज्य में कितने अधिकार

फैजान मुस्तफा, (कुलपति, चाणक्य राष्ट्रीय विधि विश्वविद्यालय)

राष्ट्रपति के सवालों के संदर्भ में शीर्ष अदालत की पाँच न्यायाधीशों की पीठ ने राज्यपाल की संवैधानिक शक्तियों को जो व्याख्या दी है, वह काफी दूरगामी असर वाली है। ये शक्तियाँ विधानसभाओं द्वारा पारित विधेयकों के संबंध में हैं। वास्तव में, राज्य सरकार जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है और लोकतांत्रिक व्यवस्था में राज्यपाल के पास (जो जनता द्वारा निर्वाचित नहीं है) राज्य विधानसभा की इच्छा को नकारने की ताकत नहीं हो सकती। होनी भी नहीं चाहिए। मगर सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि अनुच्छेद 200 में उल्लिखित 'यथार्थित' शब्द का उपयोग किसी समय-सीमा को निर्धारित करने में नहीं किया जा सकता। हालाँकि, असाधारण परिस्थितियों के लिए वह कुछ अपवाद बना सकती है। समयावधि के लिए चुना जाना चाहिए और उस पर 'गलत आचरण' के लिए महाभियोग भी चलाया जाना चाहिए।

जयप्रकाश नारायण चाहते थे कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा संबंधित राज्य की विधानसभा और उसके सांसदों द्वारा चुने गए चार लोगों के पैनल में से की जाए। फिर, यह फैसला हुआ कि राज्यपाल का चुनाव नहीं, चयन किया जाएगा। इसकी कई वजहें थीं: जैसे, निर्वाचित राज्यपाल का मुख्यमंत्री से टकराव हो सकता है। वह अपनी लोकप्रियता के कारण अलग रुख अपना सकता है और मुख्यमंत्री के साथ मिलकर केंद्र के आदेशों का उल्लंघन भी कर सकता है। आखिर में, आंबेडकर ने यह कहकर मामला सुलझाया कि चूँकि राज्यपाल नाममात्र का मुखिया होगा, इसलिए हमें उसके चुनाव पर समय व संसाधन खर्च नहीं करने चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि राज्यपाल केंद्र की पार्टी का नहीं, बल्कि राज्य के लोगों का प्रतिनिधित्व करेगा। मगर केंद्र सरकार राज्यपालों की नियुक्ति में हमेशा मुख्यमंत्रियों से सलाह लेगी। टीटी कृष्णमाचारी ने तो यहाँ तक कहा कि इस मामले में मुख्यमंत्री के पास वीटो की ताकत होनी चाहिए। दशकों बाद सरकारीया आयोग (1987) ने भी यही सिफारिश की और उप-राष्ट्रपति व लोकसभा अध्यक्ष से भी इस संदर्भ में परामर्श मांगने का सुझाव दिया।

मगर बाद की सरकारों ने उन लोगों को नियुक्त नहीं किया, जो अपनी प्रतिष्ठा और निष्पक्षता के कारण राज्य सरकार व जनता का विश्वास कमा सकें। राष्ट्रपति के ताजा संदर्भ ने राज्यपाल को असल मुखिया बना दिया है। अभी वह मुकुटधारी तो हैं, पर शासन नहीं कर रहे, लेकिन अब वह ऐसा कर सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी सलाह में अनुच्छेद 159 के तहत राज्यपाल द्वारा 'संविधान और कानून के संरक्षण, सुरक्षा और बचाव' के लिए ली जाने वाली शपथ को महत्व दिया।

हालाँकि, उसने शपथ में निहित अन्य अभिव्यक्तियों (मसलन, जनता की सेवा और कल्याण के लिए स्वयं को समर्पित करना) की महत्ता को नजरअंदाज कर दिया, जिसके लिए राज्यपाल को राज्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों पर जल्द मंजूरी देनी चाहिए। वैसे, इस शपथ को संवैधानिक रूप से ताकतवर नहीं माना जाता। भारत के राष्ट्रपति भी ऐसी ही शपथ लेते हैं, लेकिन हम यह नहीं कहते कि उनके पास प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाले केंद्रीय मंत्रिमंडल की तुलना में अधिक शक्तियाँ हैं।

सर्वोच्च न्यायालय ने विधेयकों पर राज्यपाल के 'विवेक' को भी सीमित करने से इनकार कर दिया है। आखिर यह विवेक है क्या? यह निजी मर्जी का नहीं, बल्कि कारण व न्याय के नियमों के संदर्भ में उपलब्ध विकल्पों में से किसी एक को चुनना है। दुर्भाग्य से, हमारे राज्यपाल अपने फैसले खुद नहीं लेते और दिल्ली से जब तक कोई निर्देश नहीं मिलता, वे अपने विवेक का इस्तेमाल नहीं करते हैं।

किसी विधेयक को दूसरी बार विधानसभा से पारित करके भेजने पर अपनी सहमति न देने के संदर्भ में राज्यपाल के विवेकाधिकार को सीमित न करने से संविधान पीठ ने लोकतांत्रिक सिद्धांतों और जनमत को कमजोर किया है। न्यायालय ने राज्यपालों को अब विधानसभा से दूसरी बार पारित विधेयकों को भी राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रोकने की अनुमति दे दी है। निःसंदेह, राज्यपाल और विपक्षी राज्य सरकारों के बीच संबंध हमेशा से तनावों में रहे हैं। कांग्रेस के राज्यपाल खास तौर पर तब राजनीति करते थे, जब जनता किसी दल को स्पष्ट जनादेश नहीं देती थी या राष्ट्रपति शासन लागू करने की नौबत आती थी, मगर आज सामान्य परिस्थितियों में भी, विधेयकों पर दस्तखत नहीं किए जाते। यहाँ तक कि कुलपतियों की नियुक्ति विवादस्पद होने लगी है, राज्यपाल विधानसभा में अपने आधिकारिक उद्बोधन से अलग संशोधन करने लगे हैं और वे नियमित रूप से अपनी ही राज्य सरकार के खिलाफ राजनीतिक बयान देने लगे हैं।

संविधान पीठ ने 'डिम्ड एसेट' (देरी के कारण विधेयक को स्वतः स्वीकृति मान लेना) के मुद्दे पर पूर्व की दो न्यायाधीशों की पीठ को उचित ही असहमत जताई है। हालाँकि, यह सिद्धांत कई कानूनों का अंग है, मगर संविधान में इसका ठीक-ठाक उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार, दोनों न्यायाधीशों की यह टिप्पणी कि राष्ट्रपति को विधेयकों को स्वीकार करते समय अदालत से परामर्श लेना चाहिए, को भी उचित ही 'गलत' कहा है, क्योंकि राष्ट्रपति को परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।